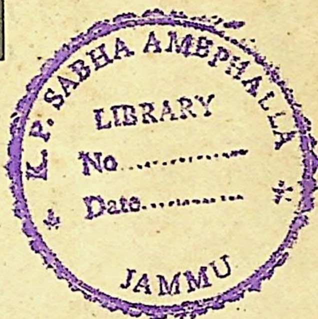
॥ श्रीहरिः ॥

'मामनुस्मर युद्धय च'

फोन ६४८, रजिस्ट्री सं०-ए. ६४७

सिद्धान्त

[पाक्षिक]



सम्पादक-मण्डल

गङ्गाशङ्कर मिश्र, दुर्गादत्त त्रिपाठी,
जानकीनाथ शर्मा, वैजनाथ अग्निहोत्री



[वर्ष १२, अङ्क २३]
सं० २०१३

गङ्गातरङ्ग, नगवा, बनारस ५

वार्षिक मूल्य
साधारण ४), विशेष १०)

एक प्रति का ३ आना

(पृष्ठ ४२७ का शेष)

सम्बन्ध नहीं, बल्कि वह यही बतलाता है कि किसी समय क्या था, जो फिर नष्ट हो गया। किन्तु जो था, उसके विषय में कोई सामान्य मत नहीं निर्धारित किया जा सकता। किसी घटनाविशेष के सम्बन्ध में यह पूर्वकल्पित विश्वास कि यही सत्य है, इतिहास के दृष्टि-कोण को अन्य घटनाओं के प्रति अनुदार और सङ्कुचित बना देता है।

इतिहासकार मानवजीवन के एक अंश को लेकर उस पर अन्य घटनाओं द्वारा पड़े प्रभाव का अध्ययन करना चाहता है। संस्थाएं, धर्म और भाषाएं जैसी चीजें, स्वयं में, कोई ऐतिहासिक घटना नहीं होती, वरन् वे तभी ऐतिहासिक बनती हैं, जब कि मानव-सापेक्षता से उनका अध्ययन किया जाय। अर्थात् निष्प्र-योजन उसके अध्ययन-क्षेत्र से परे हो जाता है। वह क्लिवोपैट्रा की नाक को एक ऐतिहासिक वस्तु मानेगा, क्योंकि रोमसाम्राज्य के इति-हास में इसका प्रभाव महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। सामान्यरूप से दीखनेवाले कार्य-कारण-सिद्धान्त से प्रभावित होने के कारण वह कृत्रिम रूप से प्रधान दीखनेवाली घटनाओं को ही प्रधानता देता है और कितनी ही शक्तियों और उनके सामर्थ्यों को समाप्त कर देता है। इस संक्षिप्त वर्णनावली को ही ये इतिहासकार इतिहास की वास्तविक प्रगति एवं परम्परा बतलाते हैं और इस वर्णनावली में भी हेरोडोटस से सम्बद्ध उपाख्यान, थ्यूसी-डाइडस के कल्पित भाषण और प्लूटार्च के काल्पनिक संवादसदृश मिथ्या और मनगढ़न्त वस्तुएं सीमित रहती हैं।

यह इस सत्य पर प्रकाश डालता है कि इतिहासकार कभी कभी घटनाओं से कुछ दूर होकर भी उसके प्रभाव के अधिक निकट पहुँच सकता है। इस प्रकार वह एक सद्-भावना का निर्माण करता है और इसे एक कार्यकारण-सिद्धान्त का रूप देता है। इसे वह आवश्यक बतलाता है, इस प्रकार की प्रत्येक निर्मित घटना जीवन की जटिलता को आवश्यकता से अधिक सरलता प्रदान करने का प्रयास है। यदि हम इतिहास की प्रगति को सोद्देश्य प्रगति मानें, तो इसे एक नये अर्थ में ग्रहण करना होगा, जिसे वह प्रकाशित करता है। यह उद्घाटन कितने ही परिमित केन्द्रों को, जो काल से परे हो गये हैं, परस्पर सम्बद्ध-सा करता प्रतीत होता है। इसी निकट सम्बन्ध स्थापित करने की प्रक्रिया में ही हम ऐतिहासिक घटनाओं का मूल्य और महत्त्व पा सकते हैं।

(क्रमशः)

पत्र का एक शाखा-कार्यालय लखनऊ में है। चन्दा तथा लेख काशी कार्यालय भेजिये और पत्र-व्यवहार इस पते से कीजिये—'सिद्धान्त' शाखा-कार्यालय, मदनकुटीर, सुभाषमार्ग, लखनऊ।

सिद्धान्त

"जयति रघुवंशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः।
दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः॥"

वर्ष १२] ज्येष्ठ कृष्ण ११ मंगलवार २०१३ [अंक २३
५-६-५६

बुद्ध और बौद्धमत

१.

गत वैशाखी पूर्णिमा को विभिन्न स्थानों में बड़ी धूमधाम से 'बुद्ध-परिनिर्वाण महोत्सव' मनाया गया। अपने को 'सैक्यूलर' कहनेवाली सरकार ने गरीब हिन्दू जनता का करोड़ों रुपया उस पर खर्च किया। आस्तिक हिन्दू बुद्ध को नवां अवतार मानकर प्रतिदिन सङ्कल्प में उनके नाम का स्मरण करते हैं, पर क्या वे शुद्धोदनपुत्र कुमार सिद्धार्थ ही हैं, जो गौतम बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए? 'श्रीमद्भागवत' में बतलाया गया है कि 'कलियुग के प्रवृत्त होने पर अर्थात् द्वापर के अन्त में देव-शत्रुओं के मोहन के लिए अजन के पुत्र इस नाम से कीकट देश में उत्पन्न होंगे।' किन्तु ये सब बातें गौतम बुद्ध के सम्बन्ध में लागू नहीं होतीं। उनका जन्म नेपाल-प्रदेश में कपिलवस्तु नामक नगर में ईसा से ५६३ वर्ष पूर्व हुआ था। बुद्ध जातकों में इसके पहले उनके ५५० जन्मों की कथा बतलायी गयी है। हो सकता है कि 'अवतार मानकर जिनका पूजन किया जाता है और जिनकी चर्चा पुराणों में आयी है, वे गौतम बुद्ध से बहुत पहले के रहे हों,' पर आजकल गौतम को ही बुद्ध माना जाता है और बौद्धमत के वे ही प्रवर्त्तक बतलाये जाते हैं।

अपने यहाँ बुद्ध को अवतार मानने के साथ ही बुद्धावतार का प्रयोजन भी बतलाया गया है। वैदिक धर्म में जैसे अधिकारियों की प्रवृत्ति न होना दोष है, वैसे ही अनधिकारियों की प्रवृत्ति होना भी। उन दिनों यज्ञ-यागादि में अनधिकारियों का प्रवेश हो गया था। यज्ञ के नाम पर पशुओं का वध हो रहा था और सुरापान भी चलता था। शास्त्रों में यज्ञ के अङ्गरूप यद्यपि पशुवध अनुमोदित है, तथापि यज्ञव्याज से उदर-पोषणार्थ पशु-वध पाप ही है। इस तरह धर्म की ओट में अधर्म का प्रचार होने लगा। उस समय किसी के समझाने-बुझाने से भी उनकी

उन कार्यों से निवृत्ति असम्भव थी। ऐसी स्थिति में उन्हें उन कर्मों से निवृत्त करने के लिए भगवान् को उनके श्रद्धेय बनकर प्रकट होने की आवश्यकता हुई। बस इसीलिए बुद्धावतार हुआ। वे महाविरक्त और सिद्ध थे। उन्होंने अपने चमत्कारों से कितने ही अनधिकारियों को मोहित कर लिया और वे यज्ञ-यागादि से विरत हो गये। इसीलिए अपने यहां बुद्ध की प्रार्थना में कहा जाता है—'बुद्धरूपं समास्थाय सर्वरूपपरायणः। मोहयन्सर्वभूतानि तस्मै बुद्धात्मने नमः॥'

गौतम बुद्ध का लिखा हुआ कोई ग्रन्थ नहीं। उनके कुछ उपदेश 'धम्मपद', 'सूत्तनिपात' आदि ग्रन्थों में सङ्गृहीत हैं। कहा जाता है कि 'बुद्ध संसार में प्रथम शिक्षक थे, जिन्होंने सदाचार को धर्म का तत्त्व और आधार बनाया।' पर ऐसी बात नहीं। अपने यहां सामान्य धर्मों में सदाचार की वे सब बातें आ जाती हैं, जिनका बुद्ध ने उपदेश दिया। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि पर अपने यहां कितना जोर दिया गया है। धर्म के १० लक्षण तो प्रसिद्ध ही हैं। 'श्रीमद्भागवत' में ३२ लक्षण बतलाये गये हैं। उनमें वे सब बातें आ जाती हैं, जिन पर बुद्ध ने जोर दिया है। अधिकांश स्थानों में उनके उपदेश प्राचीन संस्कृत वचनों के पाली में अनुवादमात्र हैं। उसके कुछ उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं।

'मनुस्मृति' का वचन है 'न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः। यो वै युवाप्यधीयानः तं देवाः स्थविरं विदुः' (अ० २, श्लो० १५६)। यही वचन 'धम्मपद' में इस रूप में पाया जाता है 'न तेन थेरो सोहोति येनस्स पलितं सिरो। यम्हि सच्चं च धम्मो च अहिंसा संयमो दमो' (२६०)। अभिवादन के सम्बन्ध में मनु ने लिखा है—"अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्" (अ० २, श्लो० १२१)। थोड़े से शाब्दिक परिवर्तन के साथ यही भाव 'धम्मपद' में इस प्रकार लिखा गया है -'अभिवादनसीलस्स निच्चं बुड्ढापचायिनो। चत्तारि धम्मा वुड्ढन्ति आयुवण्णो यसो बलम्॥' बुद्ध ने अहिंसा, क्षमा, अक्रोध आदि पर बल देते हुए कहा है कि वैर से वैर कभी शान्त नहीं होता, वह अवैर से ही शान्त होता है। यह सनातन धर्म है—'न हि वैरेण वैराणि समन्तीध कदाचन। अवेरेण तु सम्मन्ति एस धम्मो सनातनो'। मनु ने ब्राह्मण सन्यासी के लिए यही उपदेश दिया है कि 'वह कभी क्रोध न करे। गाली देनेवाले को भी आशीर्वाद दे'—'क्रुध्यन्तं न प्रति क्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्'(अ० ३, श्लो० ४८)। इसमें 'सनातन' शब्द का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। अपने यहां ऐसे धर्मों के वर्णन के साथ प्रायः ये शब्द आते हैं—'एष धर्मः सनातनः'। बुद्ध भी उन्हें ही दोहराते हैं। 'महाभारत उद्योगपर्व' का वचन है—"अक्रोधेन जयेत्क्रोधम् असाधुं साधुना जयेत्। जयेत्कदर्यं दानेन जयेत्सत्येन चानृतम्।" यही भाव 'धम्मपद' में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—'अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने। जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलीकवादिनम्।'

अपने यहां का यह उपनिषद्-वाक्य कितना प्रसिद्ध है-"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।" 'बौद्धचर्यापद्धति' में वह इस प्रकार आया है—'सब्बे सत्ता सुखी होन्तु सब्बे होन्तु च खेमिन्तो। सब्बे भद्राणि पस्सन्तु मा कञ्चिद्दुःख भागमा॥' बौद्ध पञ्चशील, एकादश शील,

अष्टाङ्ग मार्ग आदि में जो जो बातें बतलायी गयी हैं, वे सब अपने यहां प्राचीन शास्त्रों में भरी पड़ी हैं। लेखविस्तारभय से यहां उन्हें पूरी तरह दिखलाया नहीं जा रहा है। लोकमान्य तिलक ने अपने 'गीतारहस्य' में 'गीता और बौद्ध ग्रन्थ' शीर्षक प्रकरण में सप्रमाण यह सिद्ध किया है कि 'भगवद्गीता' से ही ऐसी शिक्षाएं ली गयी हैं। 'गीता' का वचन है 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्ष-भयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥' 'धम्मपद' के श्लोक ३६० से ४२३ तक में इन्हीं का वर्णन किया गया है। 'गीता' के "यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः" (१२,१५) का ही अनुवाद 'सुनिसुत्त' के 'अरोसनेय्यो न रोसेति' अर्थात् न तो वह (मुनि) कष्ट पाता है और दूसरों को कष्ट देता है, इन शब्दों में पाया जाता है। 'सेल-सुत्त' के यह विचार कि 'जो कोई जन्म लेता है वह मरता है, प्राणियों का आदि तथा अन्त अव्यक्त है, इसीलिए उसका शोक करना व्यर्थ है' (१।६) 'गीता' के "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च" (२।२८) तथा "अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना" (२।२८) इन श्लोकों का अक्षरशः अनुवाद है।

अतः जिन्हें बौद्धमत की विशेषता बतलाया जाता है, वे तो अपने यहां की पुरानी ही बातें हैं। उस दिन राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने कहा कि 'आजकल के संसार को भगवान् बुद्ध के उपदेशों की सब से अधिक आवश्यकता है', पर इस प्रकार के उपदेश केवल बुद्ध के ही नहीं, वे स्वयं इसका दावा नहीं करते, वरन् कहते हैं 'यह सनातन धर्म है' "एस धम्मो सनातनो"। इन उपदेशों से किसे विरोध हो सकता है, पर जिन बातों में बौद्धमत वैदिक धर्म से भिन्न है, वे दूसरी ही हैं। इस सम्बन्ध में भी एक बात का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। आज जो मत 'बौद्धमत' के नाम से प्रचलित है, वह बुद्ध के मूल उपदेशों से बहुत कुछ भिन्न है। यज्ञों में अधिक पशुवध देखकर गौतम के कोमल हृदय को बड़ा आघात पहुँचा। इसका निषेधकर उन्होंने यज्ञों का आध्यात्मिक अर्थ लगाया। 'सुत्तनिपात' के एक प्रश्न के उत्तर में बुद्ध का कहना है कि 'जो तीन प्रकार की यज्ञसम्पत्ति को जानकर यज्ञ और आराधना करता है तथा अपने अन्दर उदारता धारण करता है, वह ब्रह्मलोक प्राप्त करता है'—"यो यजति तिविधं आराध्य दक्खिणेय्ये हि तादि। एवं यजित्वा सम्मा याचयोगो उपपज्जति ब्रह्मलोकं ति ब्रूमीति।' विभिन्न वर्णों के स्वकर्त्तव्य-पालन पर उन्होंने बड़ा जोर दिया। 'सुत्त-निपात' में प्राचीन ब्राह्मणों का धर्म बतलाते हुए उनका कहना है कि 'प्राचीन काल में स्वाध्याय ही ब्राह्मणों का धन-धान्य था और वे वेदरूपी कोष की रक्षा करते थे।' उसी में उन्होंने यह भी कहा है कि 'जिसने उस वेदज्ञ ब्राह्मण को जान लिया, जिसके पास कुछ धन नहीं और जो सांसारिक कामनाओं में आसक्त नहीं, वह आकांक्षारहित सचमुच इस संसारसागर के पार पहुँच जाता है। वेद को जाननेवाला विद्वान् इस संसार में जन्म या मृत्यु में आसक्ति का परित्याग कर तृष्णा तथा पाप से रहित होकर जन्म और वृद्धावस्था से पार हो जाता है। ऐसा मैं कहता हूँ'—"यं ब्राह्मणं वेदगुं अभिजञ्ञा अकिञ्चनं कामभवे असत्तम्। अद्धाहि सो ओधमिकम् अतारि तिण्णो च पारम् अखिलो अंकखो।" "विद्वा च

सो वेगू नरो इध भवाभवे सङ्गम् इमं विसज्जा। सो वीततण्हो अनिघो निरासो अतारि सो जाति जरांति ब्रूमीति।"

इन सब वचनों से स्पष्ट होता है कि 'गौतम ने स्वयं वेदों की निन्दा नहीं की।' उन्होंने वेदज्ञ के प्रति आदर ही प्रकट किया। पर बाद में उनके शिष्यों ने वेदों को 'धूर्त भांडों द्वारा रचित बतलाया।' गौतम बुद्ध की शिक्षाओं का उलटा-सीधा अर्थ लगाकर बौद्धमत ने क्या रूप धारण कर लिया इस पर हम अगले अङ्क में विचार करेंगे।

——

हमारा बारहवाँ वर्ष

इस वर्ष का यह २३ वाँ अङ्क है। पत्र पाक्षिक होने से वर्ष भर में २४ अङ्क निकलने चाहिएं। इस तरह अगले अङ्क के साथ १२ वाँ वर्ष पूरा हो जाना चाहिए। किन्तु १२ वें वर्ष का आरम्भ आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा से हुआ, इस तरह वर्ष की समाप्ति उसी तिथि के लगभग होनी चाहिए। किन्तु इस वर्ष मलमास पड़ गया। इस तरह दो अङ्क और होने चाहिएँ। ऐसा करने से खर्च और बढ़ जाता है। दीपावली और होली के अवसर पर हमने अवकाश ग्रहण किया, पर साथ ही उन दोनों अवसर पर विशेषाङ्कों में दुगुने पृष्ठ दे दिये। अब ऐसा विचार होता है कि "बीच में एक अवकाश लेकर इस वर्ष का अन्तिम अङ्क आषाढ़ कृष्ण १०, तारीख ३ जुलाई को निकाला जाय।" ऐसा होने से "१३ वें वर्ष का पहला अङ्क आषाढ़ शुक्ल १०, तारीख १७ जुलाई को निकलेगा," जो गुरुपूर्णिमा के लगभग ही पड़ेगा। एक विशेषाङ्क निकालने का विचार हो रहा है। एक सुझाव है 'परमार्थाङ्क' निकाला जाय और यह लगभग ३०० पृष्ठ का हो। कुछ लोगों की राय है कि "नये वर्ष का प्रथमाङ्क ही विशेषाङ्क होना चाहिए।" पर उसके लिए समय बहुत कम रह गया है। दो-तीन सौ पृष्ठ की ठोस सामग्री जुटाने और छपाने में दो-तीन मास का समय लग जायगा। इसलिए कुछ ऐसी भी राय हो रही है कि "श्रावणी पूर्णिमा या जन्माष्टमी को विशेषाङ्क निकाला जाय।" इन सब बातों पर अभी विचार चल रहा है। ठीक सूचना हम अगले अङ्क में देंगे। पर इसके साथ ही हमें आर्थिक प्रश्न पर भी विचार करना है। इस वर्ष में हमने कम से कम ५०० ग्राहक बना लेने की आशा की थी, पर वह पूरी नहीं हो पायी। ग्राहकों से हमें जो रकम प्राप्त हुई, उसके अतिरिक्त सहायता में प्राप्त लगभग १२०० रुपया लग गया। कागज, छपाई, डाक महसूल तथा कुछ फुटकर खर्च के अतिरिक्त एक पैसा भी खर्च नहीं किया जाता। कार्यालय का काम चलाने के लिए एक सज्जन को केवल १० रुपया प्रतिमास पारिश्रमिक दिया जाता है। अर्थाभाव के कारण एक चपरासी तक नहीं रखा गया। पैकिंग आदि कुछ लोग मिलकर कर लेते हैं। लखनऊ शाखा कार्यालय में भी कोई वैतनिक कर्मचारी नहीं है। पत्र-व्यवहार का सब कार्य श्रीइन्द्रचन्द्र रस्तोगी ही संभाल रहे हैं। 'सिद्धान्त' के प्रचार के लिए वे सदा प्रयत्नशील रहते हैं। तब भी प्रतिअङ्क ११० रुपया खर्च लग ही जाता है। इस तरह लगभग २५०० रुपया वार्षिक खर्च बैठता है। इसके लिए ही कम से कम ७०० ग्राहक चाहिएं। यदि पृष्ठसंख्या बढ़ाना है तो या तो मूल्य बढ़ाया जाय या ग्राहकों की संख्या कम से कम १५०० की जाय। इस समय ४) रुपये में हम ४७२ पृष्ठ दे रहे हैं। इसे कम नहीं कहा जा सकता। पुस्तकों का मूल्य देखकर इसका अनुमान लगाया जा सकता है। फिर बिक्रीकर लग जाने से इधर कागज का मूल्य बढ़ गया है,

इसे भी ध्यान में रखना है। ४ रुपये में ही ३०० पृष्ठ का विशेषाङ्क हो, यह कहाँतक सम्भव है? पर हमारी यह इच्छा अवश्य है कि 'एक उच्चकोटि का विशेषाङ्क निकलना चाहिए'। यदि इसके लिए पाठकों को कुछ देना भी पड़े तो उन्हें आपत्ति न होनी चाहिए। आजकल 'सिद्धान्त' जैसे पत्र की कितनी आवश्यकता है, इसका अनुभव पाठक स्वयं कर लेंगे। साधनों की कमी के कारण हम उसे जैसा बनाना चाहते हैं, अभी तक नहीं बना सके। हम चाहते हैं कि "उसमें ज्ञान का विवेचन हो, भक्ति का मार्ग दिखलाया जाय, ऐतिहासिक शोध हो और अपने शास्त्रीय दृष्टिकोण से आधुनिक समस्याओं पर विचार चले।" इन सब विषयों के लिए स्थान चाहिए। स्थानाभाव के कारण हमारे पास कितने ही उच्चकोटि के लेख पड़े हुए हैं। आजकल विना पारिश्रमिक के विद्वानों के लेख नहीं मिलते। किन्तु हम पर सभी विद्वानों की बड़ी कृपा है कि "वे विना किसी पारिश्रमिक के अपने लेख बराबर भेजते रहते हैं।" श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज के कई लेख हमारे पास आ गये हैं। थोड़ा-थोड़ा अंश कई अङ्कों में देने से विचारशृंखला टूट जाती है। पर लम्बे लेखों के लिए ऐसा करना ही पड़ता है। हमारी यह सब कठिनाइयाँ तभी दूर हो सकेंगी, जब हमारे पाठक हमारी पूरी सहायता करेंगे। हमारी दौड़ तो उन्हींतक है। विज्ञापनबाजी में हम कुशल नहीं। फिर आजकल विज्ञापनों के लिए भी पैसा चाहिए। हम अपने विज्ञापन तो अपने पाठकों को ही मानते हैं। कई रूप में हमारे पाठक हमारी सहायता कर सकते हैं। हम तो इतना ही चाहते हैं कि किसी न किसी तरह हमें अधिक से अधिक रूप में सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त होता रहे। सब स्थिति हमने अपने पाठकों के सामने रख दी। हम चाहते हैं कि "वे इस बीच हमें अपने सुझाव भेजने की अवश्य कृपा करें।' हम उन पर अच्छी तरह विचार करेंगे और उन्हीं के अनुसार आगे का अपना कार्यक्रम बनायेंगे।

——

ज्ञान और आनन्द

(श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज)

२.

यहाँ शङ्का होती है कि "निरुपाधि इष्टत्व आनन्द में स्वाभाविक है या औपाधिक?" अन्तिम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप में आनन्दरूपता नहीं होगी, क्योंकि वह उसकी इष्टता तो निरुपाधिक ही है। प्रथम पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें भी विकल्प यह है कि वह औपाधिक निरुपाधि इष्टत्व ज्ञान से भिन्न है या अभिन्न? यदि पहला पक्ष कहें, तो उसमें सखण्डत्वापत्ति होगी। यदि ज्ञान से अभिन्न ही है, तब तो उसमें आनन्द-पदप्रयोग व्यर्थ ही है। परन्तु यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान और आनन्द दोनों का यद्यपि अभेद ही है, तथापि कल्पित भेद लेकर ज्ञानत्व-आनन्दत्व जातिभेद को लेकर दोनों शब्दों की प्रवृत्ति होती है। एतावता 'विषयोल्लेखरहित ज्ञान आनन्द है' यह पक्ष भी निर्दोष ही है। 'ज्ञान विषयोल्लेखरहित

भी होता ही है' यह पीछे सिद्ध किया जा चुका है। जगत् दृश्यरूप होने से सत् नहीं कहा जा सकता, किन्तु दृक्रूप होने से आनन्द सद्रूप भी है।

सुख एवं वेदन का भेद न होने से पर-प्रेमास्पदरूप से भासमान आत्मा ही आनन्द-रूप है। जैसे वृत्तिरूप ज्ञान अनित्य होने पर भी वृत्तिभासक स्फुरणरूप ज्ञान नित्य है, वैसे ही अन्तःकरणवृत्तिरूप सुख भी अनित्य है, परन्तु ब्रह्मात्मस्वरूप सुख नित्य ही है। 'मैं कभी न रहूँ ऐसा न हो, किन्तु सर्वदा बना रहूँ' (मा न भूवम् किन्तु सर्वदा भूयासम्) इस प्रकार आत्मा में स्वाभाविक ही प्रेम देखा जाता है। यदि आत्मा सुखरूप न हो, तो वह परप्रेमास्पद नहीं हो सकता। यदि प्राणी अनित्य सुख में भी प्रेम करता है, तो नित्य सुख में तो परप्रेम होना ही चाहिए। सुख में ही प्रेम होता है। सुखसाधनों में भी यद्यपि प्रेम होता है, तथापि सुख के प्रयोजन से ही सुखसाधनों में प्रेम होता है। सुखसाधनों में प्रेम सुखार्थ ही होता है। परन्तु सुख में प्रेम अन्यार्थ नहीं होता। इसी तरह आत्मा में भी प्रेम आत्मार्थ ही होता है, अन्यार्थ नहीं। इसीलिए आत्मा निरुपाधिक प्रेम का आस्पद है। जैसे चणकचूर्णादि (बेसन) में मधुरता शर्करासम्बन्ध से होती है, परन्तु शर्करा में स्वतः मधुरिमा होती है। मोदक आदि में सातिशय मिठास होती है, शर्करा में निरतिशय मिठास होती है। उसी तरह अन्यत्र सातिशय प्रेम होता है, आत्मा में निरतिशय प्रेम होता है। इसीलिए सब कुछ आत्मार्थ है, आत्मा अन्यार्थ नहीं होता। अतः आत्मा सब का ही शेषी है।

संसार में सुख-दुःख एवं सुख-दुःख-साधनों के वैचित्र्य से यह मानना पड़ता है कि जीवात्मा के पिछले शुभाशुभ कर्मों से ही यह विचित्रता उपपन्न होगी। पिछले शुभाशुभ कर्मों की उत्पत्ति भी जन्मान्तरीय देह से माननी पड़ेगी। वह जन्मान्तर भी उससे प्राचीन कर्मों से मानना पड़ेगा। इस तरह बीज एवं अङ्कुर की परम्परा के समान ही जन्मों एवं कर्मों की परम्परा को भी अनादि मानना पड़ता है। यह अनादि परम्परा सादि देह के आश्रित हो नहीं सकती। अतः अनादि आत्मा के ही आश्रित उसे मानना पड़ता है अर्थात् अनादि आत्मा के ही पूर्व पूर्व देहों से उत्तरोत्तर कर्म होते हैं एवं पूर्व पूर्व कर्मों से उत्तरोत्तर देह होते हैं। उस आत्मा में ही कर्म एवं जन्म चलते हैं।

शय्या, प्रासादादि-सङ्घात जैसे परार्थ (दूसरों के लिए) होते हैं, वैसे ही देह, इन्द्रिय, मन आदि का सङ्घात भी स्वविलक्षण किसी चेतन के लिए ही होता है। शय्यादि जैसे अपने से भिन्न देवदत्तादिशरीररूपी सङ्घात के ही लिए दृष्ट हैं, वैसे ही यदि देहादि-सङ्घात भी किसी दूसरे सङ्घात के ही लिए हो, तब तो अनवस्था-प्रसङ्ग होगा, क्योंकि उस सङ्घात को भी किसी अन्य सङ्घात के लिए मानना पड़ेगा। अतः शरीरादि-सङ्घात को किसी स्वविलक्षण, असंहत चेतन के लिए मानना पड़ेगा। इसीलिए त्रिगुणात्मक सुख-दुःख-मोहात्मक अव्यक्त, महदादि प्रपञ्च के विपरीत त्रिगुणातीत, असंहत असङ्ग चेतन आत्मा सिद्ध होता है। त्रिगुणात्मक जड़ प्रपञ्च-रथादि चेतन सारथी या अश्वादि से अधिष्ठित ही जैसे कार्यकरणक्षम होता है, वैसे ही अचेतन प्रकृति, बुद्धि आदि भी चेतन से अधिष्ठित होकर ही कार्य्यकरणक्षम होगी। अतः त्रिगुणात्मक अचेतन से भिन्न चेतन अधिष्ठाता आवश्यक है। भोक्ता भी अचेतन से भिन्न चेतन ही होना चाहिए। सुख-दुःखादि भोग्य हैं। इनके द्वारा अनुकूलनीय, प्रतिकूलनीय, सुखी, दुःखी चेतन ही हो सकता है। बुद्ध्यादि स्वयं सुख-दुःख-मोहात्मक हैं, अपने

से ही स्वयं अनुकूलनीय या प्रतिकूलनीय नहीं हो सकते। इसी तरह द्रष्टा के विना दृश्य नहीं हो सकता। बुद्ध्यादि दृश्य हैं, उनका द्रष्टा इनसे भिन्न ही होना चाहिए। चेतन ही साक्षात् द्रष्टा होने से वही साक्षी हो सकता है। द्रष्टा चेतन स्वयं अदृश्य होता है। जैसे रूप दृश्य है, चक्षु द्रष्टा है, वैसे ही चक्षु भी दृश्य है, मन द्रष्टा है।

संसार में चेतन के अधीन ही अचेतन की प्रवृत्ति होती है। भले चेतनसंयुक्त अचेतन की प्रवृत्ति होती है, तथापि प्रवृत्ति अचेतन की ही है, क्योंकि दोनों ही प्रत्यक्ष हैं। फिर भी अचेतन रथादि से जीवित देह में अचेतन-विलक्षणता स्पष्ट ही है। काष्ठादि के आश्रित दाह, प्रकाशादि क्रिया केवल अग्नि में उपलब्ध नहीं होती। फिर भी दाह, प्रकाशादि क्रिया अग्नि का ही धर्म है, क्योंकि अग्निसंयोग होने से ही काष्ठादि में दाहादि उपलब्ध होता है, अग्निसंयोग के विना उपलब्ध नहीं होता। भौतिकवादी भी तो चेतन देह को ही प्रवर्तक मानते हैं। वेदान्तानुसार निर्विकार कूटस्थ आत्मा भी अचेतन का प्रवर्त्तक वैसे ही होता है, जैसे अयस्कान्त मणि स्वयं प्रवृत्तिरहित होने पर भी लोह का प्रवर्त्तक होता है या जैसे प्रवृत्तिरहित रूपादि चक्षुरादि के प्रवर्त्तक होते हैं। यद्यपि जैसे दुग्ध स्वयं वत्सवृद्ध्यर्थ प्रवृत्त होता है, जैसे जल अचेतन भी प्रवृत्त होता है, वैसे ही अचेतन की प्रवृत्ति होनी ठीक है, तथापि वहाँ भी वत्स के चोषण तथा सर्वशासक अन्तर्यामी से ही दुग्धादि की प्रवृत्ति होती है। जैसे कर्त्ता के विना कुठारादि करणों का व्यापार नहीं बन सकता, वैसे ही देह, इन्द्रियादि का देहादिभिन्न कर्त्ता के विना व्यापार नहीं हो सकता। भौतिकवादी शरीर को चेतन कहता है।

कहा जाता है कि "जैसे नैयायिक के मुक्तात्मा में ज्ञान नहीं होता, वैसे ही मृत शरीर में भी ज्ञान का अनुपलम्भ उपपन्न हो जाता है। प्रमाण के अभाव से ज्ञान का अभाव उपपन्न हो ही जाता है।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि शरीर चेतन हो, तो बाल्य, यौवनादि भेद से देह में भेद सुस्पष्ट उपलब्ध होता है। फिर एक देह न होने से एक आत्मा भी नहीं होगा। फिर 'जिस मैंने बाल्यावस्था में माता का अनुभव किया था, वही मैं वृद्धावस्था में पौत्रों का अनुभव करता हूँ' ऐसा अनुभव न होना चाहिए। बाल, स्थविर शरीर में भेद प्रत्यक्ष है। शरीरसम्बन्धी अवयवों के उपचय-अपचय द्वारा शरीर का उत्पाद-विनाश सिद्ध है। जो कहा जाता है कि "पूर्वशरीरोत्पन्न संस्कार से द्वितीय शरीर में संस्कार उत्पन्न होता है' तो यह ठीक नहीं। अनन्त संस्कारों की कल्पना में गौरव होगा। यदि शरीर ही चेतन है, तब तो वह उत्पन्न होनेवाला शरीर नवीन ही है। फिर बालकों की माता के स्तन्यपान में प्रवृत्ति न होनी चाहिए, क्योंकि इष्टसाधनताज्ञान प्रवृत्ति में हेतु है। सद्यःसमुद्भूत शिशु को इष्टसाधनता का अनुभावक कुछ भी नहीं है। देहभिन्न आत्मा माननेवाले तो कह सकते हैं कि जन्मान्तरानुभूत इष्टसाधनता का स्मरण हो सकता है। परन्तु जहाँ देहभिन्न आत्मा नहीं है, वहाँ तो जन्मान्तर की बात है ही नहीं। वहाँ स्तन्यपान में जन्मान्तरीय इष्टसाधनता का ज्ञान नहीं कहा जा सकता।

शङ्का हो सकती है कि "यदि जन्मान्तरीय अनुभूत स्तन्यपान की इष्टसाधनता का स्मरण होता है, तो अन्य जन्मान्तरीय अनुभूत पदार्थों का स्मरण क्यों नहीं होता?" तो इसका समाधान यह है कि उद्बोधक न होने से उनका स्मरण नहीं होता। स्तन्यपान के सम्बन्ध में तो जीवन का हेतुभूत

अदृष्ट ही संस्कार का उद्बोधक है। यदि स्तन्यपान में इष्टसाधनता का बोध होकर प्रवृत्ति न हो, तो जीवन ही असम्भव हो जायगा।

चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों को ही कुछ लोग चेतन मानते हैं। परन्तु चक्षु आदि के उपघात होने पर भी स्मृति होती है, अतः यदि चक्षुरादि इन्द्रिय चेतन होते, तो उनके उपघात में स्मृति न होनी चाहिए। अन्य के अनुभूत का अन्य स्मरण नहीं कर सकता। मन भी चेतन नहीं है। फिर तो वह अणु होने से उसकी प्रत्यक्षता न होगी। कहा जाता है कि "क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है।" परन्तु 'सोऽहं' (मैं वही हूँ) इस प्रकार अनेकदिन-वर्ती आत्मा की प्रत्यभिज्ञा होने से नित्य विज्ञान ब्रह्म को ही आत्मा मानना ठीक है।

जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति का अभाव

(श्रीक्षितीशचन्द्र चक्रवर्ती एम्. ए., बी. एल्.)

ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति और असत्ख्यातिरूप वादी-अभिमत अर्थ की चिन्मात्ररूप जगत् में असङ्गति-प्रदर्शनपूर्वक अवस्था-त्रय-निर्मुक्त आत्मतत्त्व का निरूपण यहाँ किया जा रहा है।

इस जगत् की सृष्टि के पहले निर्विषय चिन्मात्र विद्यमान था—उसमें किसी शब्द की प्रवृत्ति नहीं थी। उसी अशब्दपद में 'ज्ञान' स्फुरित हुआ, उसका आभास जगत् हुआ। इस आभासरूप जगत् में जिसकी अधिष्ठानरूप में अहं प्रतीति हुई उनको जगत् असत्यरूप प्रतिभात हुआ। वे संसार में निमग्न नहीं हुए, उन्हें अज्ञान-निवृत्तिरूप ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं रही। वे स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं। जिन्होंने जगत् के अधिष्ठान को नहीं जाना, उनके लिए ज्ञान और अज्ञान दोनों ही अवस्थाएँ विद्यमान हैं। उन्हें भिन्न-भिन्न नाम-रूपात्मक जगत् भासित होता है। 'ख्याति' शब्द का अर्थ है 'स्फुरण'। आत्मा सर्वदा स्वयं प्रकाशमान् है, अतः अख्याति सम्भवित नहीं है। आत्मा का अन्य कौन ख्यापन या अख्यापन करेगा? सृष्टि यदि सत्य होती, तो अन्यकृत ख्यापन या अख्यापन सम्भव होता। स्वप्रकाश आत्मा ही जब सृष्टि है, तब ख्याति आदि सर्वथा अनुपपन्न हो जाते हैं। आत्मा में ख्याति आदि कुछ भी नहीं रह सकता—आत्मा निराभास सत्ता है—वह निर्विकल्प, अचेत्य चिन्मात्र है। जगत् भी तत्स्वरूप है—अन्य कुछ नहीं। मूर्ख अज्ञानी व्यक्ति आत्मसत्ता में मिथ्या आकार-कल्पना करते हैं, विचार करने पर वह निवृत्त हो जाती है।

यह जगत् किसी संस्कार से उत्पन्न नहीं हुआ है, पहले का कोई अनुभव या उसकी स्मृति जगत् का कारण नहीं है। जगत् काकतालीय के समान अकस्मात् स्फुरित हुआ है। स्वप्न में मरुभूमि में जल भासित हुआ। फिर उस जल की स्मृति उदित हुई। तब स्पष्ट ही समझा जाता है कि जल का अनुभव भी असत्य है और उसका स्मरण भी असत्य है। ठीक इसी प्रकार यह संसार का अनुभव है। अतएव जाग्रत् भी कोई अवस्था सत्य नहीं है, स्वप्न और सुषुप्ति नाम की भी कोई अवस्था वास्तव में नहीं है। तुरीय (तीनों अवस्थाओं की अपेक्षा चौथी

अवस्था) भी अवस्तुभूत है। अद्वैतसत्ता ही—सकल उत्थानरहित चैतन्यमात्र या प्रकाशरूप स्थित है। जगत् भी चिन्मात्र-स्वरूप है। जो क्रिया दिखायी पड़ रही है, वह वास्तव में कुछ नहीं है।

ज्ञानी पुरुष के निश्चय में पाँचों अवस्थाएँ असम्भव हैं। अथवा सर्वदा ही जाग्रत् विद्यमान है यह कहा जा सकता है, क्योंकि जाग्रत् कहने से यह समझा जाता है कि उस अवस्था में कुछ अनुभव हो रहा है—आत्म-सत्ता सर्वदा ही अनुभवरूप है—अनुभवसत्ता सर्वदा ही जाग्रद्रूप है (आत्मसत्ता सर्वदा ही प्रकाशशील है - आत्मसत्ता के अनुभव का अज्ञान कभी भी नहीं होता)। आत्मा स्वयं प्रकाशशील है और अन्य (कल्पित) पदार्थ को भी प्रकाशित करता है, अतः सर्वदा ही जाग्रत् है। अथवा सर्वदा स्वप्न है—जिस अवस्था में पदार्थ विपर्ययरूप से भासित हों, उसे स्वप्नकाल कहा जाता है। सभी पदार्थ विपर्यय (विपरीत) रूप में भासित होते हैं, विपर्ययरहित केवल आत्मसत्ता है, उसमें जो पदार्थ भासित होता है, वह विपर्ययरूप (असत्य) है। अतः सर्वदा स्वप्न ही है। अथवा सर्वदा सुषुप्ति ही विद्यमान है—उस अवस्था में अज्ञान की वृत्ति (अभाववृत्ति—'कुछ नहीं है' ऐसा अविद्या का परिणाम) रहती है। 'मैं अपने को नहीं जानता' इस प्रकार अज्ञान की वृत्ति सर्वदा ही विद्यमान रहने के कारण सकल समय सुषुप्ति रहती है ऐसा कहा जा सकता है। अथवा सर्वदा तुरीय (चतुर्थ अवस्था) है ऐसा कहा जा सकता है—साक्षीभूत सत्ता का नाम तुरीय है। जिससे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति प्रकाशित होती है, उस प्रकाशक या प्रकाश-सत्ता का कभी भी अभाव नहीं होता। सब समय समस्त वस्तुओं का जो अनुभव करता है, जो सब विषयों को साक्षात् जानता या प्रकाशित करता है, उसे प्रत्यक्चेतन या साक्षीचैतन्य कहा जाता है, उसका अभाव कदापि नहीं हो सकता, अतः सब कालों में तुरीयपद विद्यमान है। अथवा सर्वदा तुरीयातीत पद विद्यमान है ऐसा कहा जा सकता है—अद्वैतसत्ता का नाम तुरीयातीत है। उसके समीप द्वैत (स्वात्मातिरिक्त पदार्थ) कुछ भी नहीं है। सर्वदा ही अद्वैतसत्ता विद्यमान है। उसमें जगद्रूप द्वैतवस्तु का अत्यन्त अभाव है, जैसे कि मरुस्थल में जल का अत्यन्त अभाव होता है। सुतरां सर्वदा तुरीयातीत पद है।

आत्मा उदय-अस्तरहित सर्वदा अपने निर्विषय स्वभाव में स्थित है। पृथ्वी आदि जो तत्त्व भासित होते हैं, वे वास्तव में उत्पन्न नहीं हुए हैं। आत्मसत्ता का प्रकाश इन रूपों में प्रतिभात होता है। जगत् की उत्पत्ति या लय में आत्मा ज्यों का त्यों रहता है। यह जगत् उत्पन्न नहीं हुआ है। अतः सत्, असत्, कल्पना, स्मृति, भीतर, बाहर कुछ भी नहीं है—अद्वैतसत्ता में कल्पना उत्पन्न नहीं होती। जैसे स्वप्न में जो सृष्टि भासित हुई, वह निज अनुभव के सिवा अन्य कुछ भी नहीं है और बाहर जो दिखलायी पड़ा—अथच वास्तव में आन्तर और बाह्य कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार यह जगद्रूप अन्तर (प्रत्यय) भी बाहर (दृश्य) कुछ भी नहीं है, सब भ्रमरूप है। शब्द अर्थ के बिना नहीं है और शब्द अर्थ के विचार सङ्कल्प से होते हैं। सङ्कल्प जब स्फुरित होता है, तब चित्त में अहं अभिमान उठता है। चित्त को आत्मसार वस्तु में लीन करना पड़ता है। चित्त के लीन होने पर जगत् का अत्यन्त अभाव हो जाता है। द्वैतकल्पना किञ्चित् भी नहीं रह जाती। 'योगवाशिष्ठ' मोक्षशास्त्र का पुनः पुनः आलो-

चन करने पर सङ्कल्प क्षीण हो जाता है और परमानन्दस्वरूप में स्थिति होती है—"तस्मादपास्य परयामलया धियान्तः- सङ्कल्पकल्पनमनल्पविकल्पजालम्। कृत्वा मनः सकलशास्त्रमहार्थनिष्ठमुड्डीय गच्छ पदमुत्तममेकनिष्ठः॥"

साहित्य में असत्य-सीमा

(श्रीरामलालजी)

यह नितान्त असन्दिग्ध है कि साहित्य सत्य का अभिव्यक्त रूप है, साहित्य सत्य का माङ्गलिक और रमणीय प्रतीक अथवा पर्याय है। मन में स्वाभाविक रूप से विचार उठता है कि साहित्य के विभिन्न रूप—नाटक, काव्य, कथा और निबन्ध आदि—को समलङ्कृत करने के लिए जब काल्पनिक और मनगढ़न्त कथानकों तथा अलङ्कारों आदि का जानबूझ कर समावेश किया जाता है, तब साहित्य अपना सत्स्वरूप खो देता है या वह विकृत अथवा कृत्रिम हो जाता है। वास्तव में यह अत्यन्त गूढ़ प्रश्न है और इसके रहस्योद्घाटन से साहित्य-तत्त्व समझने की सत्प्रेरणा मिल सकती है। इसलिए इस पर विचार करना आवश्यक-सा दीख पड़ता है। साहित्यकारिता असत्य का पोषण नहीं करती, उससे सत्य का संरक्षण होता है। सत्य के अभिव्यञ्जन अथवा साहित्यीकरण में जिस सीमा तक असत्य को प्रतीकरूप में ग्रहण किया जाता है, उसमें निस्सङ्कोच स्वीकार करना पड़ता है कि सत्य अमर्यादित और तमसाच्छन्न हो उठता है, साहित्य का यह घोर पतन है, सत्य का तो पतन हो नहीं सकता, पर उसकी अभिव्यञ्जन-प्रक्रिया में विकार के लिए स्थान रहता ही है। साहित्य के सत्य ने चैतन्य अथवा आत्मा में ही समस्त अभिव्यञ्जन-प्रक्रिया के विकार-अविकार प्रतिष्ठित किये हैं, उनके उद्गम और लय सब के सब सत्य के ही आश्रयभूत हैं। समस्त जागतिक जीवन में साहित्य के स्तर से इसी सत्य अभिव्यक्ति का दर्शन किया जा सकता है। सत्य ही शाश्वत समृद्धि, शान्ति और कल्याण से लोक-लोकान्तर को नित्य प्राणित और निरन्तर समुत्थित करता रहता है। सत्य साहित्य का स्वर्ग है, असत्य उसका नरक-अधिष्ठान है। साहित्य में असत्य, कल्पना तथा प्रतीक की अधिकता निस्सन्देह लोक-जीवन को पाप की ओर ले जाकर मानव चेतना को विवश कर देती है कि वह पतन को ही उत्थान स्वीकार करे, पतन का आशय विशेष रूप से आत्मपतन से ही है। आत्मा का बाह्य आधार अथवा प्रतीक स्वीकार करना किसी-किसी परिस्थिति में पतन का कारण-सा बन जाया करता है। इसी कारण के उन्मूलन के लिए साहित्य के क्षेत्र में अनेक वाद और सङ्घर्ष की परिकल्पना हो जाती है, जो वास्तव में असत्य ही है, पर उस पतन के कारण के लिए उसी तरह उपयोगी सिद्ध होती है, जिस तरह विष का विष से ही उन्मूलन किया जाता है। इन परिकल्पना और सङ्घर्षों का ग्रहण साहित्य की सीमा में सत्य के अपवादरूप-सा होता है। इस कथन की प्रामाणिकता 'रामायण','महाभारत' आदि ग्रन्थों से सिद्ध हो जाती है। 'महाभारत' में 'नरो हतो वा कुञ्जरः' के सत्साहित्य में सत्य के अनेक अपवाद-

रूपों की गणना करायी गयी है और सब से बड़ी वास्तविकता तो यह है कि इन अपवादों की स्वीकृति पर साक्षात् सनातन ब्रह्म श्रीकृष्ण की वाणी भगवान् वेदव्यास द्वारा महाभारत में ही क्रियाशील-सी अभिव्यक्त की गयी है।

भारतीय साहित्य की वैदिक, औपनिषद और दार्शनिक भूमि पर असत्य के अभिनिवेश की कल्पना तक नहीं मिलती। उसमें तो सम्पूर्ण सत्याधिष्ठान आत्मा की कथा का विमल और निष्कलङ्क निरूपण मिलता है। वह मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की पवित्र वाणी से परम परिशुद्ध और नितान्त निर्मल है। असत्य-अभिनिवेश की पहली भूमिका रामायण, महाभारत और पौराणिक वाङ्मय में भगवान् की अभिव्यक्ति के साथ-साथ उनकी माया की आकृति में मिलती है, पर भगवान् की विशिष्ट-विशिष्ट लीलाओं की सम्पूर्णता में उसका लय हो जाता है। 'रामचरित-मानस' में शिव ने रामायणगत मायिक सत्य की बड़ी समीचीन अभिव्यक्ति की है। जगदम्बा के प्रति उनका वचन है—"अमित रूप प्रगटे तेहि काला, जथाजोग मिले सबहिं कृपाला। छन महिं सबहि मिले भगवाना, उमा मरम यह काहु न जाना।" सत्य के मायिक रूप में आदि से अन्ततक सत्य की ही सत्ता का प्रभाव दीख पड़ता है। इस मार्मिक कथन की उपज काल्पनिक नहीं, वेदगत है, ऋग्वेद की ऋचा साक्षी है—"रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।" (६।४७।१८)। प्रत्येक रूप के लिए भगवान् प्रतिरूप हैं, उनका रूप उनको देखने के लिए है।

सत्य के मायिक रूप के पौराणिक स्तर पर यह सिद्ध-सी बात है कि सत्य (भगवान्) बन्धनगत नहीं है, बन्धन का मूल अविद्या है, असत्य है और सत्य में इसका सर्वथा अभाव है। 'श्रीमद्भागवत महापुराण' में इस वस्तुतत्त्व का समीचीन निरूपण हो सका है। 'भागवत' में उक्ति है—'सृजस्यथो लुम्पसि पासि विश्वं रजस्तमःसत्त्वगुणैः स्वशक्तिभिः। न बध्यसे तद्गुणकर्मभिर्वा ज्ञानात्मनस्ते क्व च बन्धहेतुः॥' परमात्मा अपने शक्तिरूप रज, तम और सत्त्वगुणों से स्वयं सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करते हैं, पर उनसे या सृष्टि आदि कर्म से बन्धनगत नहीं होते। परमात्मा सत्स्वरूप हैं, साक्षात् सत्य ही हैं, इसलिए उनमें—सत्य में—बन्धन का कारण अविद्या—असत्य—है ही नहीं। सत्य से सत्य प्रतिभासित होने पर असत्य-सा दीखता है, पर है वह सर्वथा सत्य ही। मायिक सत्य को प्रतीकगत होना पड़ता है, पर इसका आशय यह नहीं है कि वह असत्य में रूपान्तरित हो जाता है। विश्वचेतना के सब से बड़े साहित्य वेदान्तदर्शन में इसका उचित रूप से विचार किया गया है। 'ब्रह्मसूत्र' में व्यास का कथन है—'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्।' सत्य का विकार लीला-मात्र है। साहित्य अथवा जीवन में असत्य का अभिनिवेश चिरन्तन, सनातन या नित्य नहीं है, वह अनित्य, अस्थायी एवं अचिर है और इस अनित्यता, अस्थिरता और अचिरता का रूपान्तर नित्यता, स्थिरता और चिरता में निरन्तर सृष्टि, स्थिति और संहार के माध्यम से होता रहता है। यह रूपान्तर मायागत, कल्पनागत और आदर्शगत है। रूपान्तर के ये तीनों क्रम एक ही परिस्थिति के विभिन्न भेद हैं, पर स्वरूप में समान हैं, इनके आश्रय में साहित्य के अनेक रूप आभासित होते हैं। मायागत सत्य की विश्लेषण-सीमा पर यह औपनिषद तथ्य स्वीकार ही करना पड़ता है। 'श्वेताश्वत-

रोपनिषद्' की स्पष्ट स्वीकृति है क्षर (असत्य) और अक्षर (सत्य) की चिन्तनभूमि पर— "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानाविशते देव एकः। तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥" इसका आशय यह है कि 'प्रकृति तो क्षर अर्थात् परिवर्तनशील और विनाशगत है और इसमें रमणशील जीवात्मा अक्षर है। इस असत्य और सत्य, जड़ और चेतन पर सम्पूर्ण नियन्त्रण परमात्मा का होता है। भारतीय साहित्य-क्षेत्र में इसीलिए जीवन की आदि और अन्तिम आकृति, निष्कृति और परिणति में परमात्मा ही परमानन्दस्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म अथवा भगवान् ही प्रत्येक परिस्थिति में प्रतिपाद्य और वरणीय हैं। असत्य का एक पर्याय पाप भी है। पाप में सत्य की स्वीकृति नहीं रहती। पाप अविद्या की सन्तान है। पाप और अविद्या अथवा असत्य में क्रियाभेद नहीं है। आकार-भेद अवश्य है, पर इससे क्रियाभेद की अभिन्नता का नाश नहीं होता। असत्य अथवा अविद्याजनित पाप कभी सत्य पर असत्यारोपण कर ही नहीं सकता। इस कथन की साहित्यकारिता 'रामचरितमानस' में देखी जा सकती है। वाली ने राम पर—सत्यनारायण पर—आरोप लगाया कि "आप ने धर्म के संरक्षण के लिए पृथ्वी पर अवतार लिया, पर मुझे व्याध की तरह क्यों मारा ?" भगवान् ने कहा कि 'भाई की स्त्री, बहिन और पुत्रवधू तथा कन्या ये चारों समान हैं, मोहग्रस्त प्राणी इन पर कुदृष्टि करने पर अमित पाप का भागी होता है। उसे मारने से पाप नहीं लगता।' असत्यजनित पापपरायण वाली के प्रश्न का समाधान हो गया सत्स्वरूप भगवान् राम की वाणी द्वारा और वाली ने पाप का प्रश्रय छोड़कर स्वीकार किया—"सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि। प्रभु अजहूँ मैं पापी अन्तकाल गति तोरि ॥" जिस प्रकार सूर्योदय होने पर तम का नाश होता ही है, उसी प्रकार सत्य की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति में असत्य के लिए अवकाश रह सकता ही नहीं। सत्य द्वारा लीलामात्र के लिए असत्य की स्वीकृति की ही आकृति माया है, इसका वरण भगवान् को भी करना पड़ता है बाह्य अभिव्यक्ति में। तुलसीदास ऐसे सत्यपरायण महान् भक्त साहित्यकार की वाणी है, भगवान् राम की उक्ति है अपनी वास्तविक आत्मशक्ति जगदम्बा जानकी के प्रति—"सुनहुँ प्रिया व्रत रुचिर सुसीला, मैं कछु करबि ललित नरलीला।" "तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा, जौ लगि करौं निसाचर नासा। जबहिं राम सब कहा बखानी, प्रभुपद धरि हिय अनल समानी। निज प्रतिबिम्ब राखि तहँ सीता, तैसइ सीलरूप सुविनीता। लछिमन हूँ यह मरमु न जाना, जो कछु चरित रचा भगवाना॥" भगवान् राम की यह सत्य-छाया अथवा भक्त की भाषा में लीलामयता मायिक सत्य की आकृतिविशेष है। साहित्य में मायिक सत्य की ही प्रधानता का दर्शन होता है। ऐसे तो दर्शनगत काव्यों की रहस्यभूमि पर अमायिकता का निर्मल अभिव्यञ्जन मिलता है, पर साहित्य के अन्य अङ्गों पर सत्ता है मायिकता की ही। मायिक सत्य नितान्त असत्यातीत है, कल्पना और आदर्श से परे है, उसकी अनुकृति सत्य के साम्राज्य में ही सम्भव है। साहित्य में काल्पनिक सत्य मिथ्या का शिष्ट और चमत्कृत संज्ञा-विशेष है। लङ्का में अङ्गद का प्रवेश होने पर नागरिकों ने कल्पना अथवा अनुमान-बुद्धि से विचार किया कि 'वही बन्दर फिर आ गया है, जिसने उस दिन लङ्का जलायी थी।' अङ्गद में हनुमान् के स्वरूप का आरोप काल्पनिक सत्य है। 'रामचरितमानस' के लङ्काकाण्ड में इस आनुमानिक

अथवा काल्पनिक सत्य का समावेश निम्न-लिखित चौपाई में उपलब्ध है—"भयउ कोलाहल नगर मझारी, आवा कपि लंका जेहि जारी।" काल्पनिक सत्य में सत्य का प्रतीकत्व मिट जाता है, मायिक सत्य में वह अक्षुण्ण रहता है और आदर्शगत सत्य में उसका रूपान्तर हो जाता है असत्य की स्वीकृति के विस्मरण में। लोकजीवन में इसी आदर्शगत सत्य का साहित्य के कथा-उपन्यासक्षेत्र में प्रतीकगत—रूपकगत दर्शन होता है। जो वस्तु है नहीं, उसकी प्रतीक अथवा रूपक के रूप में सत्य की अभिव्यक्ति के लिए स्वीकृति ही आदर्शगत सत्य है और भारतीय साहित्य में इसका वरण साधारण प्राणी को ही नहीं, भगवान् तक को करना पड़ा। 'रामायण', 'महाभारत' तथा पुराणों में इस सम्बन्ध के उदाहरण भरे पड़े हैं। स्थानाभाव के कारण आदर्शगत सत्य के रूप में राम की उस समय की मनोदशा पर विचार किया जा सकता है, जब वे रावण द्वारा हरी गयी जानकी का वन में अन्वेषण कर रहे थे। 'रामचरितमानस' साक्षी है—"बिरही इव प्रभु करत विषादा, कहत कथा अनेक संवादा॥" 'इव' के माध्यम से भगवत्ता की पूर्ण परिणति साधारण विरही के भाव-साम्राज्य में हो जाती है, यही साहित्य में आदर्शगत सत्य की स्वीकृति है।

आदर्शगत सत्य की अधिकता साहित्यसृजन के कथा और उपन्यास के क्षेत्रों में मिलती है। आदर्शगत सत्य, जो आकृति से प्रतीक-मात्र है, असत्य-सा प्रतिभासित होता है, साहित्य को प्राण देता रहता है। आदर्शगत सत्य में असत्य-प्रतिभास का समावेश सत्य के संरक्षण में प्रतीकरूप से सहायक होता है। सत्य की प्रतीक-मीमांसा पर वेदान्त-दर्शन का निर्णय है। प्रतीक प्रतीक ही रहता है, वह सत्य नहीं हो सकता—"न प्रतीके न हि सः।" प्रतीक में सत्य-भाव नहीं करना चाहिए, प्रतीक सत्य है ही नहीं। साहित्य में प्रतीक का उदय तब होता है, जब साहित्यकार बाह्य भोगोपकरणों में रमण करनेवालों के सत्स्वरूप को दिखाने में सङ्कोच करता है, पर यह नियम कालापेक्ष नहीं है। व्यास ने कंस के विरोध में प्रतीक का प्रश्रय नहीं लिया। वाल्मीकि ने रावण की समाप्ति के लिए प्रतीक से काम नहीं चलाया। उन्होंने अपने समकालीन समाज के लिए अपने भागवत और रामायण में कृष्ण और राम—सत्य की निष्कलङ्क एवं निर्मल अभि-व्यक्ति की।

प्रत्येक दृष्टि से विचार करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि सत्य, शिव और सुन्दर को सम्पूर्ण अभिव्यक्ति वेदों में ही हो सकी है। अवैदिक साहित्य में प्रतीक का कम और अधिक मात्रा में आश्रय लिया गया है। वेदों ने सम्पूर्ण रूप से सत्य पर ही चलने का प्रोत्साहन दिया है। यजुर्वेद के एक मन्त्र का अंश है--"अहमनृतात्सत्यमुपैमि।" असत्य का सम्पूर्ण बहिष्कार साहित्य में सत्य की स्थापना की प्रेरणा देता है। सत्य का शाश्वत प्रश्रय शिव का दर्शन कराता है और शिव की उपासना-शैली ही सौन्दर्य-अङ्कन है। साहित्य सत्य-शिव-सुन्दर का प्रतीक है।

(यह स्तम्भ विचार-विनियम के लिए है)

आयु की मर्यादा

(वैद्यराज डाक्टर कविराज श्रीप्रतापसिंह)

भारतवर्ष के आर्य पुरुषों ने संसार के उपयोगी विज्ञानों पर अनेक प्रकार के संशोधन किये हैं। जीवन के स्वरूप का भी सुन्दर रूपक निर्धारित किया है। पर खेद है कि पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा की चकाचौंध में हमने अपने मर्यादाशास्त्रों का अनुशीलन करना छोड़ दिया है। इसीलिए हमें हर ज्ञान के लिए आधुनिक संशोधनों की शरण लेनी पड़ती है। आज के वैज्ञानिकों ने तन-मन से खोज का काम ऐसे सुन्दर ढङ्ग से किया है कि बलात् उधर हमें दौड़ना पड़ता है। अतः मैं 'सिद्धान्त' के विज्ञ पाठकों, लेखकों से प्रार्थना करता हूँ कि वे खोजकर आयु की मर्यादा पर पौर्वात्य-पाश्चात्य मतों का 'सिद्धान्त' द्वारा प्रकाश प्रसारित करें।

यह सर्वविदित है कि मनुष्य की आयु शतवर्ष की मानी गयी है—"आयुर्वर्षशतं नृणां समुदितं" (भर्तृहरि)। "जीवेम शरदः शतम्" (यजुः)। "कलौ शतवर्षायुरिति चरकः।" किन्तु जातकग्रन्थों में मनुष्य और अन्य प्राणियों की आयुमर्यादा निम्न पद्य के अनुसार भिन्न मानी गयी है—"समाः षष्टिर्द्विघ्ना मनुजकरिणां पञ्च च निशा हयानां द्वात्रिंशत् खरकरभयोः पञ्चककृतिः। विरूपा साप्यायुर्वृषमहिषयोर्द्वादश शुनां स्मृतं छागादीनां दशकसहिता षट् च परमम्॥" (बृ० जातक)। इस गणना से मनुष्य की परमायु १२० वर्ष पांच दिन, हस्ति की परमायु १२० वर्ष, अश्व की परमायु ३२ वर्ष, गर्दभ की २५ वर्ष, उष्ट्र की २५ वर्ष, वृषभ, महिष तथा श्वान की १२-१२ वर्ष और छागजातीय की १६ वर्ष। इतना ही नहीं, 'महाभारत' में एक और मर्यादा मनुष्य के आयु की निर्धारित की गयी है। वह भी ध्यान में रखने योग्य है—"सप्तसप्ततिवर्षाणि सप्तमासदिनानि च। एषा भीमरथी संज्ञा न लंघ्या पापकर्मभिः॥" अर्थात् सतहत्तर वर्ष, सात मास, सात दिन की आयु वाले को भीमरथी संज्ञा देते हैं। इसका लङ्घन पुण्यात्मा पुरुष ही कर सकता है। इसकी फलश्रुति में यह भी लिखा है कि "एतां यो लङ्घयेत् सोऽश्वमेधफलं लभेत्।" इस फलश्रुति और सात वर्ष, सात मास, सात दिन तथा १२० वर्ष, पांच दिन का समन्वय कैसे किया जाय? क्या अन्य पौराणिक ग्रन्थों में भी इसका वर्णन है?

इस १०० वर्ष के समय को बिताने के लिए चार आश्रम बनाये गये और प्रत्येक आश्रम की मर्यादा बनाकर काम भी सौंप दिया। पर क्या वह आश्रममर्यादा आजकल के भौतिक जगत् में और परमाणुयुग में पालन की जा सकती है? यदि नहीं, तो यह समय कैसे बिताया जाय? खासकर वानप्रस्थ और संन्यस्त आश्रम का?

प्राचीनों ने तो निम्न पद्य में स्पष्ट आदेश दे दिया है—"शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणां। वार्धके मुनिवृत्तिनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥" 'मुनिवृत्ति' और 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' की परिभाषा भी समझने की आवश्यकता है। इस पर भी विज्ञजन प्रकाश डालने की कृपा करें।

यह भी ज्ञातव्य है कि १५ वर्ष तक

बालक के साथ कैसा व्यवहार किया जाय। इसका निम्न श्लोक में पिता को उपदेश दिया गया है। क्या ऐसा युवा के लिए भी उपदेश दिया गया है कि वह १६ वर्ष से ५० वर्ष तक कैसे आयु बिताये ?—"लालयेत् पञ्च वर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्। प्राप्ते च षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत् ॥" आजकल व्यवहार में बाल, युवा, प्रौढ़, वृद्ध, जीर्ण आदि संज्ञा जीवनक्रम से चल रही है। कहीं साठ वर्ष की आयु होने पर 'सठिया गया है,' ऐसा कहते हैं तो कोई 'साठा और पाठा' का उद्घोष करते हैं। क्या इसमें कोई तत्त्व है ? क्या साठ वर्ष पूर्ण होने पर नवयुवत्व प्राप्त हो सकता है ?

मानसिक, शारीरिक स्थिति में क्या परिवर्तन होता है यह ज्ञातव्य है।

मैं आजकल वाततपिक रसायन पर अनुसन्धान कर रहा हूँ, अतः मेरी यह जिज्ञासा पाठकों के समक्ष निवेदित है। आशा है प्रकाश मिलेगा।

वासना-त्याग से मुक्ति

(श्रीबैजनाथ अग्निहोत्री)

२.

वस्तुतः जबतक वासना का नाश नहीं होता, तबतक तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कहाँ ? और जबतक तत्त्वज्ञान की सम्प्राप्ति नहीं, तब तक वासनाक्षय भी नहीं—"यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः। यावन्न तत्त्वसम्प्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः ॥" इस प्रकार तत्त्वज्ञान का कारण वासनाक्षय है और वासनाक्षय का कारण है तत्त्वज्ञान। भिन्न-भिन्न पुरुषों में विभिन्न प्रकार की वासनाएँ देखने में आती हैं। जिस पुरुष में जिसकी वासना हो, उसके नाश के लिए उसकी विरोधी शुभवासना का सङ्ग्रह करना चाहिए, क्योंकि सभी पुरुषों में न समस्त अशुभ-वासनाएँ हो सकती हैं और न किसी में समस्त शुभ-वासनाएँ ही। मैत्री, करुणा, शम, दमादि शुभ-वासनाओं से चित्त शुद्ध होकर चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म की वासना में प्रवृत्त होता है। अनात्मवासनाओं के जाल से आत्मवासना तिरोहित हो गयी है, इसलिए नित्य आत्मनिष्ठा में स्थित होने से उनका नाश हो जाने पर वह स्पष्ट भासित होने लगती है—'अनात्मवासनाजालैस्तिरोभूतात्मवासना। नित्यात्मनिष्ठया तेषां नाशे भाति स्वयं स्फुटा ॥' मृत्तिका से दर्पण ढँक जाने पर दर्पण का स्वरूप जैसे प्रकट नहीं दिखलायी पड़ता, वैसे ही देह-इन्द्रियों में 'अहं'वासना हो जाने के कारण अपना चैतन्यस्वरूप आत्मा भासित नहीं होता। मृत्तिका-घर्षण करने से स्वच्छ दर्पण निकल आता है, वैसे ही देह और इन्द्रियों में आत्मत्वभावना करने से आत्मा प्रकाशित हो जाता है। श्रवण, त्वचा, नेत्र, घ्राण और जिह्वा, ये पांच ज्ञानेन्द्रिय, वाक्, पाणि, पाद, गुदा तथा उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं। अन्तःकरणवृत्तियों के कारण ही मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार चार प्रकार का कहा जाता है। प्राण भी वृत्तिभेद से पांच प्रकार का है—प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान। इसी प्रकार स्थूल देह, सूक्ष्म देह तथा कारण-देह का भी विवेक करना चाहिए। इन कर्मे-

न्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राण के द्वारा समस्त क्रियाएँ तथा विषयों का ज्ञान होता है, यह जाग्रत अवस्था में स्थूल शरीर से होता है। सूक्ष्मशरीर से स्वप्न में वासनात्मक कर्मफलों का अनुभव होता है। कारण शरीर की अवस्था सुषुप्ति है, इन्द्रिय और अन्तःकरण सभी लीन हो जाते हैं, 'मैं कुछ नहीं जानता' यह अनुभव ही यहां का है। ये सब सङ्घातरूप से देह कहे जाते हैं। प्राणी को इन सब इन्द्रियों और इनके कर्मों का तथा प्रत्येक अवस्था का अनुभव होता है। निश्चय ही अनुभव करनेवाला इन सब से पृथक्, ज्ञानवान् और चेतनस्वरूप है। जैसे गेह, परिवार, धन, मित्रादि का अनुभव होता है और पुरुष कहता है कि 'यह गृह मेरा है, यह मेरे मित्र हैं', इस ज्ञान और कथन से ये सब अपने से पृथक् ही होते हैं। उसी प्रकार शरीर के लिए भी कहता है कि 'मेरे शिर में आज पीड़ा है, पर मेरा मन प्रसन्न है' इस अनुभव और 'मेरा' कहने से निश्चय यही सिद्ध होता है कि 'मैं' से ये सब पृथक् हैं। शरीर अनात्मा, नाशवान् है और 'मैं' आत्मा, अविनाशी, चेतन हैं।

मन जैसे-जैसे बाह्य पदार्थ देह-गेह आदिकों से उपराम होकर अन्तः चेतन आत्मा की ओर प्रवाहित होने लगता है, वैसे-वैसे अशुभ वासनाओं का विनाश होता जाता है। जिस समय सम्पूर्ण वासनाएँ तिरोहित हो जाती हैं, उसी समय प्रतिबन्धशून्य आत्मा का भान होने लगता है और जब आत्मस्वरूप में निरन्तर चित्त स्थिर हो जाता है, तब वासनाएँ भी समूल नष्ट हो जाती हैं। आत्मा का स्वरूप आकाररहित, विकारहीन आकाश के समान, नित्य, चेतन, आनन्द और विभु है। श्रुतियों में ब्रह्म का स्वरूप भी यही कहा गया है और ब्रह्म तथा आत्मा का एकत्व भी 'तत्त्वमसि' (वह तू ही है) 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) आदि श्रुतियों में प्रदर्शित किया गया है। अतः श्रुति और युक्ति से एकत्व का निश्चय करके 'मैं जीव नहीं हूँ, परब्रह्म ही हूँ' ऐसी भावना करनी चाहिए। भावना (ध्यान) में असीम शक्ति निहित है, जिसकी भावना जो करता है, वह वही हो जाता है, इसमें भृङ्ग-कीट प्रत्यक्ष प्रमाण है। कीट भृङ्ग की भावना करते करते भृङ्ग ही हो जाता है। आचार्य शङ्कर ने कहा है कि 'सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया। कीटको भ्रमरं ध्यायन्भ्रमरत्वाय कल्पते ॥' निरन्तर एकाग्र चित्त से सत्स्वरूप ब्रह्म में स्थित रहने से मनुष्य ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है, जैसे भ्रमर का भय करते-करते कीट भ्रमरस्वरूप ही हो जाता है। आत्मा का दर्शन स्थूल नेत्रों से हो नहीं सकता, शुद्धचित्त पुरुषों द्वारा समाधि में अतिसूक्ष्मवृत्ति से ही वह जाना जा सकता है। प्रथम वैराग्य के द्वारा चित्त को विषयों से हटाकर अपने लक्ष्यस्वरूप आत्मा में दृढ़ता से स्थिर करे, इन्द्रियों को उनके विषयों से अपने-अपने स्थान में उसी प्रकार खींच लेना चाहिए, जैसे कच्छप अपनी इन्द्रियों को समेट कर अपने अन्दर कर लेता है। शरीर को अचल रखे और उसकी ओर भी ध्यान न देना चाहिए। तन्मय भावना से अखण्ड-वृत्ति द्वारा तैलधारावत् एकत्व की भावना से ब्रह्म का ध्यान करे। ध्यान की तीव्रता से—निरन्तर ध्येयस्वरूप के प्रवाह से—पुरुष का स्वरूप ध्येयाकार ही हो जाता है। वहाँ ध्यान का संस्कारमात्र शेष रह जाता है और स्वरूप की स्थिति शून्य के समान हो जाती है, तब उसी को 'समाधि' कहा जाता है। यह सविकल्प समाधि है। मन, बुद्धिपूर्वक ही इसकी स्थिति होती है। इसका अभ्यास करते-करते स्वतः 'निर्विकल्प समाधि' सम्पन्न हो जाती है। इसमें मन-बुद्धि के प्रयत्न के बिना ही

स्थिति होती है। इस निर्विकल्प-समाधि से समस्त वासना-ग्रन्थियों का विनाश हो जाता है तथा वासनाओं के नाश से अखिल कर्मों का भी नाश हो जाता है और अन्दर-बाहर सर्वत्र विना प्रयास के ही निरन्तर स्वरूप की स्फूर्ति होने लगती है—'समाधिनानेन समस्तवासनाग्रन्थेर्विनाशोऽखिलकर्मनाशः। अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतः स्यात्॥'

इस निर्विकल्पसमाधिसम्पन्न पुरुष में अशुभ वासनाओं के साथ ही शुभ वासनाओं का भी क्षय उसी प्रकार हो जाता है, जैसे निर्मली का चूर्ण मलिन जल से रज का विनाश करके स्वतः भी क्षीण हो जाता है। शुभाशुभ वासनाओं के क्षीण हो जाने पर मन वैसे ही शान्त हो जाता है, जैसे तैल न होने से दीपक 'वासनाविलये चेतः शममायाति दीपवत्।' सम्पूर्ण वासनाएँ क्षीण होने के कारण जिसका मन विषयाकार नहीं होता, जाग्रत् अवस्था में भी सुषुप्ति के समान जो निर्विकल्प रहता है, शोक, मोह से जो रहित है एवं चिन्मात्रस्वरूप है, वह वस्तुतः जीवन्मुक्त है, परमेश्वर है। उसे कुछ भी कर्तव्यशेष नहीं और कुछ प्राप्तव्य भी नहीं।

— —

इतिहास का काल और दर्शन

[श्री पी० के० शास्त्री एम्. ए., एम-लिट्., पी. एच. डी.]

१.

इतिहास के दर्शन, विकास, परिवर्तन और काल के दर्शन हैं। उनका निर्माण उन तत्त्वों से होता है, जिन्हें घटनाएं कहते हैं। यदि हम इन घटनाओं के मूल की व्याख्या करें, तो हमें काल के स्वभाव का ज्ञान स्पष्ट हो जायगा।

प्रत्येक घटना अपना विशेष माप रखती है। अरस्तू के शब्दों में, जिसका तात्पर्य है कि उसका कोई न कोई आदि, मध्य और अन्त अवश्य ही होता है। यदि सत्य कोई परस्पर-सम्बद्ध पूर्णता है, तो प्रत्येक ऐसी घटना देश एवं सत्ता की अविहित विस्तार और परिमिति का परिणाम है। यह एक कृत्रिम विभाजन है, जो कि विचारक की सुविधा के लिए परिच्छिन्न कर लिया जाता है, कैसे और कहाँ इसका विच्छेद होना चाहिए, इसका निर्धारण सम्बद्ध विचारक के पूर्वचिन्तित मत से होता है। दूसरे शब्दों में, सङ्कलन की एक सशक्त प्रगति, जो कि ऐतिहासिक घटना के रूप में प्रकट होती है, अधिकांश ऐतिहासिक चिन्तना की आधारभूमि है। यह स्पष्ट है कि एक ऐतिहासिक घटना एक मानसिक निर्मिति है, एक उपयुक्त किन्तु भ्रमपूर्ण काल्पनिक अलीक है। इतिहासकार घटनाविशेष या एक घटनावली का, अन्य घटनाओं से उसके आन्तरिक सम्बन्धसूत्र की उपेक्षा करता हुआ, सङ्कलन करता है। इस प्रकार की विकृत भ्रान्ति की परम्परा में हम अपने अतीत को केवल मिथ्या रूप में ही समझने को बाध्य किये जाते हैं। कहा जाता है कि इस प्रकार की भ्रान्त विचारणा, इस परिकल्पना के कारण आवश्यक है कि हम मानव को कोई उपयुक्त कहानी, विना उसके तथ्य की व्याख्या किये, कह ही नहीं सकते और यह विचारव्याख्या पहले विचारक के मस्तिष्क की उपज होती है, फिर घटनाओं या तथ्य के रूप में देखी जाती है। यदि घटनाएं या तथ्य उपर्युक्त विचारधारा से मेल नहीं खाते, वे छाँट दिये जाते हैं, क्योंकि इति-

हास के सभी दर्शनों में विचार असन्दिग्ध रूप से घटित स्थिति की अपेक्षा अधिक सत्य माना जाता है। इतिहास का कोई भी दर्शन, अबतक, विचार को घटना के तथ्य के साथ सङ्गति नहीं दे सका है।

साथ ही इतिहास का तर्काश्रित घटनाओं के सम्बन्ध में किया गया निर्णय केवल ऐतिहासिक रीति के भीतर से किया गया होता है, क्योंकि निर्णायक स्वयं ही इतिहास की परिधि से बाहर नहीं हो सकता। वह घटनाओं का तटस्थ व्याख्याकार हो ही नहीं सकता और इस प्रकार उसका वैयक्तिक दृष्टिकोण इन निर्णयों के महत्व को विकृत कर देता है।

इसके अतिरिक्त, इतिहास प्रगति को काल के अविच्छिन्न रूप में लेता है। प्रत्येक घटना का अतीत उसमें निहित रहता है। किसी वर्तमान घटना का तभी कोई अर्थ या महत्व है, जब कि भूत और भविष्य उसमें उपलक्षित होते हों, किन्तु वर्तमान न भविष्य का कारण ही है और न उसकी पूर्वस्थिति ही, और न तो वह अतीत का परिणाम ही है। तात्पर्य यह कि सत्य एक अनवरत परम्परा नहीं है, वरन वह एक एवं अविभाज्य है। इसकी नित्यता आत्मा की नित्यता है, अतएव विभिन्न रूपों में भासित होती है।। दूसरे शब्दों में, यह एक इकाई है, जिससे हम अपने ऐहिक दृष्टिकोण तो प्राप्त करते हैं, किन्तु जिस पर हम इन दृष्टिकोणों को लागू नहीं कर सकते, और यह एक ऐसी पूर्णता है, जो प्रत्यक्ष वैयक्तिकता से पूर्णरूप से प्रभावित रहती है। अतः ऐतिहासिक होने में किसी घटना की उतनी ही सार्थकता है, जितने अंशों में वह सार्वलौकिक जीवन और सत्य से संयुक्त है, और इसे जीवन से विलग करके हम इसकी वस्तुस्थिति तथा इसके महत्व को नष्ट करते हैं। वस्तुपरिज्ञान या अर्थ सदैव उतने अंशों में मानव-सापेक्ष है, जितने अंशों में वह उसे समझता है।

प्रत्येक घटना का वर्तमान से सम्बन्ध होने के कारण उसका ऐतिहासिक महत्व रहता है। किसी घटना को वर्तमान जीवन के धरातल पर लाकर ही हम उसको ऐतिहासिक रूप में देखते हैं। कोई वस्तु यथावत् रूप से तो वर्तमान से सम्बद्ध होती नहीं, और न तो हम ऐसा सम्बन्ध जोड़ ही सकते हैं, इसका तात्पर्य इतना ही है कि हम वर्तमान को और बृहत्तर रूप में लेते हैं। यह विस्तार बहुतों को अनुभूत नहीं होता, परिणामस्वरूप इतिहास मानवसमाज के वृहत् वर्ग के लिए उपयोगी नहीं हो सकता और न तो यह किसी घटना के अवमूल्यन में पूर्ण न्याय्य और सम्मत ही हो सकता है।

यदि इतिहासकार अपने प्रतिपाद्य के प्रति विश्वस्त बना रहना चाहे, तो वह कभी भी सामान्य से प्रारम्भ करके नहीं चल सकता। जब वह अपने प्रतिपाद्य से ऊपर उठना चाहेगा, तब ऐसी स्थिति में वह इतिहासकार नहीं रह सकता। अपनी प्रकृति से ही इतिहास विशिष्ट घटनाओं और सत्यों को ही अपनाकर चलता है, वर्तमान में क्या है इससे उसका कोई

(शेष पृष्ठ ४३९ पर)

भूल-सुधार

गताङ्क २२ के पृष्ठ ४३३ पर प्रकाशित 'धर्म का पारमार्थिक स्वरूप' शीर्षक लेख के लेखक का नाम भूल से 'श्रीराजेश्वरप्रसाद' के स्थान में 'श्रीराजेन्द्रप्रसाद' छप गया है। पाठकगण कृपया इसे सुधार लें।

—सम्पादक।

मुद्रक व प्रकाशक— गोपालजी ब्रह्मचारी, सन्मार्ग प्रेस, टाउनहाल, बनारस।